वर्षः 2 अंकः 5, अप्रैल–जून, 2012

पारस–परस

हिन्दी काव्य की समस्त विधाओं की प्रतिनिधि एवं संग्रहणीय अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिकी

श्रम विशेषांक

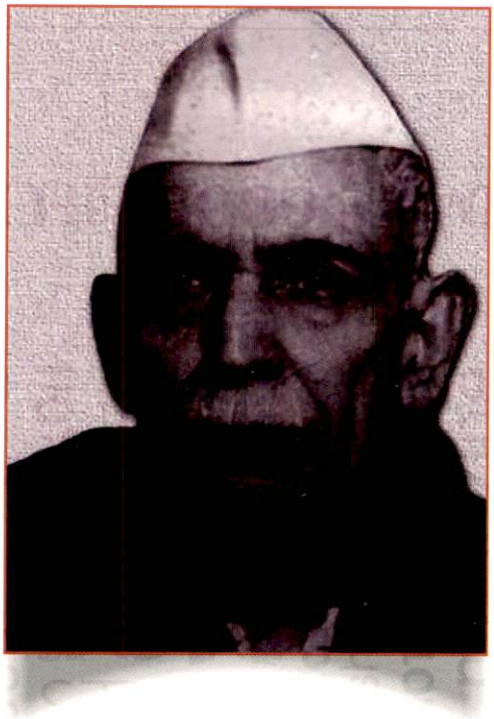

माखनलाल चतुर्वेदी

(जन्मः 4 अप्रैल, 1889; निधनः 30 जनवरी, 1968)

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूथा जाऊँ
चाह नहीं प्रेमी माला में बिध प्यारी को ललचाऊँ
चाह नहीं, सम्राटो के शवपर हे हरि डाला जाऊँ
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ
मुझे तोड़ लेना वनमाली उस पथ पर देना तुम फेंक
मातृभूमि पर शीश चढाने जिस पथ जावें वीर अनेक

वर्ष : 2, अंक : 5, अप्रैल–जून, 2012

रजि. नं. यूपी एचआईएन/2011/39939

पारस-परस

श्रम विशेषांक

हिन्दी काव्य की समस्त विधाओं की प्रतिनिधि एवं संग्रहणीय अंतर्राष्ट्रीय त्रैमासिकी

अनुक्रमणिका

संरक्षक मंडल
डॉ. एल.पी. पाण्डेय;
अभिमन्यु कुमार पाठक;
अरुण कुमार पाठक;
राजेश प्रकाश;
डॉ. अशोक मधुप

प्रधान संपादक
डा॰ सुनील जोगी

संपादक
शिवकुमार बिलग्रामी

उप–संपादक
गार्गी शर्मा (एडवोकेट)

संपादकीय कार्यालय
418, मीडिया टाइम्स अपार्टमेंट
अभयखण्ड–चार, इंदिरापुरम
गाजियाबाद – 201012
मो. : 8826365221

लेआउट एवं टाइपसेटिंगः
डिजाइन मार्ट

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक एवं प्रकाशक द्वारा **प्रसून प्रतिष्ठान** के लिए **डॉ. अनिल कुमार पाठक** द्वारा **आप्शन प्रिन्टोफास्ट पटपड़गंज इन्ड. एरिया तथा 257, गोलागंज, लखनऊ** से मुद्रित एवं सी–49, बटलर पैलेस कॉलोनी, जॉपलिंग रोड़, लखनऊ से प्रकाशित ।

पारस–परस में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार संबंधित रचनाकारों के हैं। संपादक अथवा प्रकाशक का रचनाओं में व्यक्त विचारों से सहमत होना आवश्यक नहीं है । पत्रिका से संबंधित सभी विवाद लखनऊ न्यायालय के अधीन होंगे। उपरोक्त सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।

संपादकीय		2
पाठकों की पाती		3
श्रद्धा–सुमन		
काँटे कुश कंकड़ पत्थर	डॉ. अनिल कुमार पाठक	4
कालजयी		
देश चाहता ऐसा मानव	पं. पारसनाथ पाठक 'प्रसून'	5
वह तोड़ती पत्थर	सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	6
मोचीराम	सुदामा पांडेय 'धूमिल'	7–8
श्रम	शिवमंगल सिंह 'सुमन'	9–10
समय के सारथी		
श्रम–गीत	सर्वेश चन्दौसवी	11
देख गोबरधन	बुद्धिनाथ मिश्र	12
दरबारों में खास हुए हैं	कमलेश कुमार दीवान	13
फिर याद आने लगेंगे	अमृत खरे	14
उपसंहार	जोगेन्द्र सिंह	15–16
खुद्दारी	रमेशचंद्र शर्मा 'आरसी'	17
सुख चाहे तो दुख सह ले	मदन मोहन 'अरविंद'	18
मुझको भी तरकीब सिखा कोई, यार जुलाहे	गुलजार	19
प्रवासी के बोल		
ये कैसा शहर है	अंजल प्रकाश	20
हूं मगर उल्लास नहीं	ओमकृष्ण राहत	21
किसे दोष दूँ मैं	संध्या सदासिंह	22
हम भारतवासी, हम भारतवंशी	स्नेह ठाकुर	23
नारी स्वर		
कैसे कर लेते हो ?	निधि टंडन	24
बीबी	शबनम राठी	25
वादा	पूनम कुमारी	26
जीवन क्या है	मिथिलेश शर्मा	27
तुमसे हारे हैं	डॉ. संध्या जैन 'श्रुति'	28
त्यागे तो भवधार में	डॉ. दुर्गा पाठक 'आरती'	29
नवांकुर		
विज्ञान कविताएं	संतोष कुमार सिंह	30
बरसो राम धड़ाके से	आचार्य संजीव सलिल	31
बूढा लकड़हारा	शरद पटेल	32
दूषित हुआ विधान	निर्मल शुक्ल	33
चलो उजाला ढूँढें	माधव कौशिक	34
प्रदूषण और वैश्विक ताप	डॉ0 जयजयराम आनंद	35
सदा नेह बरसाया मां ने	गाफिल स्वामी	36
जब देखा तुमको	वीरेन्द्र कुमार सैनी	37
योरप	लल्लन प्रसाद	38
सत्ता की आग	नरेन्द्र सिंह	39
ग़ज़ल		
हमदर्द कैसे–कैसे	शिवकुमार 'बिलग्रामी'	40

संपादकीय

वो जिसके हाथ में छाले हैं पैरों में बिवाई है
उसी के दम से रौनक आपके बंगले में आई है
इधर एक दिन की आमदनी का औसत है चवन्नी का
उधर लाखों में गांधी जी के चेलों की कमाई है

अदम गोंडवी साहेब की उक्त पंक्तियां बहुत कुछ कहती हैं । ये पंक्तियां आज के समाज का आइना हैं, या यों कहें हमारे समाज के विद्रूप चेहरे को उजागर करती हैं । कथनी करनी के भेद का पर्दाफाश करती हैं । देश की जनता ने आज से कई दशक पूर्व जिस संविधान को आत्मर्पित किया और जिसमें समतामूलक समाज की ओर अग्रसर होकर एक समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य निर्धारित किया गया, हमारा पूरा समाज किस तरह उस लक्ष्य से भटककर विपरीत दिशा में चल पड़ा है, उक्त पंक्तियां यही संदेश देती हैं । मेहनतकश और श्रमिक वर्ग की स्थिति क्या है और गांधीवादी विचारधारा को आत्मसात करने का दावा ठोकने वालों की स्थिति क्या है, यह उक्त पंक्तियों से स्पष्ट है ।

वस्तुतः पूंजी और श्रम के बीच एक निरंतर संघर्ष की स्थिति है । गरीब अमीर से ईष्या करता है और अमीर गरीब से घृणा । इस पूरी समस्या की जड़ में अगर हम जायें तो पाएंगे कि बहुत ही हल्का कारण है, और वह है – धन संपन्न लोगों द्वारा शारीरिक श्रम से विमुख होना । शारीरिक श्रम को हेय समझना और शारीरिक श्रम करने वालों को अधिक महत्व न देना । लेकिन यहां पर मैं बलपूर्वक कहना चाहूंगा कि शारीरिक श्रम से अधिक हितकर और श्रेष्ठकर मनुष्य के लिए कुछ नहीं है ।

गीता, बाईबिल जैसे हमारे धार्मिक ग्रंथों में नित्य श्रम को विषेश महत्व दिया गया है । बाईबिल में एक जगह आया है – तुझे पसीना बहाने पर ही रोटी मिलेगी । पसीना बहाने का तात्पर्य यहां शारीरिक श्रम से है । इसी तरह गीता के तीसरे अध्याय के बारहवें श्लोक में कहा गया है – जो व्यक्ति दूसरों की सेवा किए बिना देवताओं की दी हुई सामग्री का स्वयं ही उपभोग करता है, वह चोर है, अर्थात् अपने लिए हमें केवल श्रमसाध्य वस्तुओं का ही उपभोग करना चाहिए, देवताओं और प्रकृति से सहज प्राप्त वस्तुओं पर हमारा एकाधिकार नहीं हो सकता, भले ही ये वस्तुएं एक व्यक्ति को प्राप्त हुई हों, पर उन पर अधिकार जीवमात्र का है ।

इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति किसी उत्पादन/सृजन में अपने श्रम का योगदान नहीं करता, तो वह उस वस्तु का सही मूल्यांकन नहीं कर पाता । उसके अंदर वह दृष्टि ही पैदा नहीं होती जो उस सृजन/उत्पादन के मूल्य की थाह पा सकें और तब तक उसमें पूर्णता भी नहीं आ पाती है। अतः श्रम और नित्य श्रम ही मनुष्य को मानव बनाने का पाठ सिखाता है और उसमें मानवता की भावना का संचार करता है, और यही मानवता हमारी सोच को उन्नत बनाती है ।

प्रिय पाठकों, पारस–परस का यह अंक हम 'श्रम–विशेषांक' के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं । इसके **कालजयी** और **समय के सारथी** सहित दूसरे स्तंभों में श्रम और श्रमिक को केन्द्र में रखकर हम हिन्दी काव्य जगत की कुछ अनूठी कविताएं प्रकाशित कर रहे हैं । आशा है आप इनका रसास्वादन कर हमें अपनी प्रतिक्रिया से अवगत करायेंगे ।

शिवकुमार बिलगामी
संपादक

पाठकों की पाती

श्रीमान संपादक महोदय,

पारस–परस का नवजागरण विशेषांक पढ़ा । मैं लंबे समय से पारस–परस का पाठक हूं । पहले पारस–परस विशेषांक के रूप में नहीं आती थी । लेकिन विगत कुछ अंक इसके विशेषांक के रूप में आये हैं । इसके पूर्व मैंने इसका मां विशेषांक भी पढ़ा था और मुझे वह अंक बेहद अच्छा लगा था । मुझे यह जानकर अत्यधिक खुशी है कि पारस–परस अब अपने नये रंग–ढंग में आ रही है । नवजागरण विशेषांक के कालजयी कॉलम में आपने छायायुगीन कवियों की जो कविताएं प्रकाशित कीं जैसे जयशंकर प्रसाद की – हिमाद्रि तुंग श्रृंग से, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की – भारती वन्दना, महादेवी वर्मा की– अलि, मैं कण–कण को जान चली, सुमित्रानंदन पंत की– श्री सूर्यकांत त्रिपाठी के प्रति ये सभी कविताएं पढ़कर मुझे मेरे कॉलेज के दिनों की याद आ गयी जब मैं हिन्दी में एम.ए. कर रहा था और तभी पाठ्यक्रम में इस तरह की कविताएं पढ़ता था । उसके बाद तो हिन्दी पत्र–पत्रिकाओं में इस तरह की कविताएं दिखायी नहीं देती । समाचार पत्रों में तो जैसे कविता/काव्य का अकाल हो गया है । उनके साप्ताहिक विशेषांको में भी अच्छी कविता या अच्छे कवियों की कविता दिखाई नहीं पड़ती । मैं पारस–परस का हृदय से आभार व्यक्त करता हूं कि उसके कारण अब मुझे कुछ नयी–पुरानी अच्छी कविताएं पढ़ने को मिल रही है ।

डॉ0 चेतन शर्मा
बरकत नगर, जयपुर

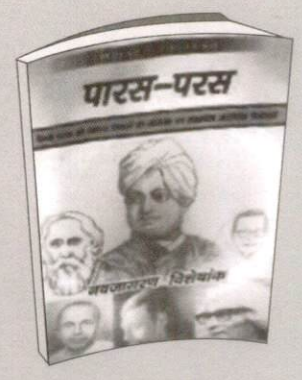

माननीय संपादक महोदय,

पारस–परस को जनवरी–मार्च, 2012 का अंक मेरे एक मित्र के पास से पढ़ने को मिला । मुझे हिन्दी कविताओं में बहुत अधिक दिलचस्पी है । मुझे इस अंक में नीरज का गीत – नीरज गा रहा है और विकास परिहार की कविता – याद करो, – काफी अच्छी लगी । डॉ0 कुअँर बेचैन और डॉ0 प्रवीण शुक्ल की रचनाएं भी अच्छी लगी । किन्तु मुझे – ई बिरवा बड़े नीकि लागै – डॉ0 अशोक अज्ञानी जी का अवधी गीत बेहद अच्छा लगाा । मैं स्वंय अवधी में काव्य रचना करता हूं । क्या मैं अपनी कविताएं प्रकाशनार्थ भेज सकती हूं ।

नीलम पाण्डेय
अकबरपुर, फैजाबाद

सूचना

पारस–परस के पाठकों और योगदानकर्त्ताओं के लिए एक खुश खबरी यह है कि 'प्रसून प्रतिष्ठान प्रबंधन' ने स्वर्गीय पारसनाथ पाठक 'प्रसून' की स्मृति में एक 'प्रसून प्रोत्साहन पुरस्कार' शुरू करने का निर्णय लिया है। इस पुरस्कार की राशि 1100 रूपये नकद है। यह पुरस्कार प्रत्येक अंक में प्रकाशित किसी ऐसी उत्कृष्ट रचना को दिया जायेगा जिसमें काव्य का मर्म और धर्म समाहित हो और जो काव्य की कसौटी पर खरी उतरती है। यदि एक से अधिक रचनाएं पुरस्कृत करने योग्य पायी गयीं तो राशि को तद्नुसार विभक्त कर दिया जायेगा।

पुरस्कार के बारे में अंतिम निर्णय प्रसून प्रतिष्ठान प्रबंधन का होगा और इस बारे में प्रबंधन के निर्णय को चुनौती नहीं दी जा सकती।

रचनाकार अपनी रचनाएं कृपया निम्नलिखित पते पर भेजें–

संपादक : पारस–परस
418, मीडिया टाइम्स अपार्टमेंट
अभय खण्ड–चार, इंदिरापुरम
गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश)
email : paarasparas.pathak@gmail.com

काँटे कुश कंकड़ पत्थर

– डॉ. अनिल कुमार पाठक

कितने घुमाव कितने चक्कर ।
ऊंचे–नीचे तूफान भरे,
जल प्लावित, बर्फीले पथ पर ।
दुखदायी इन राहों में भी,
बाबू जी चलते चले गये ।
बाबू जी चलते चले गये ।।

राह में छोड़ गया मितवा,
पर नहीं गिला अथवा शिकवा ।
हर पल मृदु मुस्कान बिखेरे,
कोमल, निर्मल उनका हियवा ।
व्यक्तित्व समत्व योगी जैसे,
एकाग्र चित्त हो बढ़े गये ।
बाबू जी चलते चले गये ।।

उत्साह, उमंग भरी आशा,
मंजिल पाने की अभिलाषा।
तममय रातें भले रहीं,
पर दूर–दूर तक नहीं निराशा ।
बिन विरत हुए नैतिकता से,
सत्पथ पर बढते चले गये
बाबू जी चलते चले गये ।।

परहित में सब त्याग दिया,
बेसुर को सुमधुर राग दिया ।
ममता–समता, बिन भेद–भाव,
मरूथल को नव बाग दिया ।
मानवता के सम्बल बन,
सबके हित रत चले गये ।
बाबू जी चलते चले गये ।।

देश चाहता ऐसा मानव

– पं. पारसनाथ पाठक 'प्रसून'

देश चाहता ऐसा मानव, जो मानव को प्यार करे ।
मानवता की रक्षा के हित, जो अशेष बलिदान करे ।
सूख रही है फसल देश की, कृषक सिसकता खलिहानों में,
श्रम से विकल वर्ग श्रमिकों का, उलझा दुःख के तूफानों में,
आज चाहिये ऐसा मानव, जो इनका भी ध्यान करे ।
नहर खोद कर निज पौरुष से, श्रमिकों का श्रम ताप हरे ।।

देश चाहता ऐसा मानव, जो युग का निर्माण करे ।
धरती पर ला दे जो सुषमा, गांवों का उत्थान करे ।।
कुत्तों से भी निम्न हो रही आज मनुज की गणना ।
रोटी के टुकड़ों के कारण पड़ता उसको लड़ना ।
आज चाहिये ऐसा मानव, दुःख में जो मुस्कान भरे ।
मिट्टी के कण–कण से जग को, जो मधुरस का दान करे ।।

देश चाहता ऐसा मानव, जीवन में जो प्राण भरे ।
जगती में भर दे समरसता कष्टों का तूफान हरे ।
भूख–भूख की रटन किया करते, अब भी कितने मानव ।
प्राण खींचती आज भूख की ज्वाला, बन जैसे दानव ।
आज चाहिये ऐसा मानव, जो प्राणों का दान करे ।
स्वप्नों–आदर्शों के बल पर, मानवता का त्राण करे ।।

वह तोड़ती पत्थर

– सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

वह तोड़ती पत्थर;
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर–
वह तोड़ती पत्थर ।

कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार
श्याम तन भर बंधा यौवन,
नत नयन प्रिय, कर्मरत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार–बार प्रहार
सामने तरु–मालिका अट्टालिका प्राकार ।

चढ़ रही थी धूप
गर्मियों के दिन
दिवा का तमतमाता रूप;
उठी झुलसाती हुई लू,
रूई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगी छा गई,
प्रायः हुई दुपहरः
वह तोड़ती पत्थर ।
देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार;
देखकर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं,
सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार
एक क्षण के बाद वह कांपी सुघर,
ढुलक माथे से गिरे सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा–
'मैं तोड़ती पत्थर।'

मोचीराम

– सुदामा पांडेय 'धूमिल'

राँपी से उठी हुई आँखों ने मुझे
क्षण–भर टटोला
और फिर
जैसे पतियाये हुए स्वर में
वह हँसते हुए बोला–
बाबूजी! सच कहूँ–मेरी निगाह में
न कोई छोटा है
न कोई बड़ा है
मेरे लिए, हर आदमी एक जोड़ी जूता है
जो मेरे सामने
मरम्मत के लिए खड़ा है

और असल बात तो यह है
कि वह चाहे जो है
जैसा है, जहाँ कहीं है
आजकल
कोई आदमी जूते की नाप से
बाहर नहीं है
फिर भी मुझे ख्याल रहता है
कि पेशेवर हाथों और फटे हुए जूतों के बीच
कहीं न कहीं एक अदद आदमी है
जिस पर टाँके पड़ते हैं,
जो जूते से झाँकती हुई अंगुली की चोट छाती पर
हथौड़े की तरह सहता है

यहाँ तरह–तरह के जूते आते हैं
और आदमी की अलग–अलग 'नवैयत'
बतलाते हैं
सबकी अपनी–अपनी शक्ल है
अपनी–अपनी शैली है
मसलन एक जूता है
जूता क्या है–चकतियों की थैली है
इसे एक चेहरा पहनता है
जिसे चेचक ने चुग लिया है
उस पर उम्मीद की तरह देती हुई हँसी है

जैसे टेलीफून के खम्भे पर
कोई पतंग फँसी है
और खड़खड़ा रही है
'बाबूजी ! इस पर पैसा
क्यों फूँकते हो ?'
मैं कहना चाहता हूँ
मगर मेरी आवाज लड़खड़ा रही है
मैं महसूस करता हूँ–भीतर से
एक आवाज आती है – 'कैसे आदमी हो
अपनी जाति पर थूकते हो ।'
आप यकीन करें, उस समय
मैं चकतियों की जगह आँखें टाँकता हूँ
और पेशे में पड़े हुए आदमी को
बड़ी मुश्किल से निबाहता हूँ

एक जूता और है जिससे पैर को
'नाँधकर' एक आदमी निकलता है
सैर को
न वह अक्लमन्द है
न वक्त का पाबन्द है
उसकी आँखों में लालच है
हाथों में घड़ी है
उसे कहीं जाना नहीं है
मगर चेहरे पर
बड़ी हड़बड़ी है
वह कोई बनिया है
या बिसाती है
मगर रोब ऐसा कि हिटलर का नाती है
'इशे बाँद्धो, उशे काट्टो, हियाँ ठोक्को, वहाँ पीट्टो
घिश्शा दो, अइशा चमकाओ, जुते को ऐना बनाओ
... ओफ्! बड़ी गर्मी है' रुमाल से हवा
करता है, मौसम के नाम पर बिसूरता है
सड़क पर आतियों–जातियों को
बानर की तरह घूरता है
गरज यह कि घण्टे–भर खटवाता है

मगर नामा देते वक्त
साफ नट जाता है
'शरीफों को लूटते हो' वह गुर्राता है
और कुछ सिक्के फेंककर
आगे बढ़ जाता है
अचानक चिहुंककर सड़क से उछलता है
और पटरी पर चढ़ जाता है
चोट जब पेशे पर पड़ती है
तो कहीं–न–कहीं एक चोर कील
दबी रह जाती है
जो मौका पाकर उभरती है
और अँगुली में गड़ती है
मगर इसका मतलब यह नहीं है
कि मुझे कोई गलतफहमी है
मुझे हर वक्त यह ख्याल रहता है कि जूते
और पेशे के बीच
कहीं–न–कहीं कहीं एक अदद आदमी है
जिस पर टाँके पड़ते हैं
जो जूते से झाँकती हुई अँगुली की चोट
छाती पर
हथौड़े की तरह सहता है
और बाबूजी ! असल बात तो यह है कि जिन्दा
रहने के पीछे
अगर सही तर्क नहीं है
तो रामनामी बेचकर या रण्डियों की
दलाली करके रोजी कमाने में
कोई फर्क नहीं है
और यही वह जगह है जहाँ पर आदमी
अपन पेशे से छूटकर
भीड़ का टमकता हुआ हिस्सा बन जाता है
सभी लोगों की तरह
भाषा उसे काटती है
मौसम सताता है
अब आप इस बसन्त को ही लो,
यह दिन को ताँत की तरह तानता है
पेड़ों पर लाल–लाल पत्तों के हजारों सुखतल्ले
धूप में, सीझने के लिए
लटकाता है

सच कहता हूँ – उस समय
राँपी की मूठ को हाथ में संभालना
मुश्किल हो जाता है
आँख कहीं जाती है
हाथ कहीं जाता है
मन किसी झुँझलाये हुए बच्चे–सा
काम पर आने से बार–बार इनकार करता है
लगता है कि चमड़े की शराफत के पीछे
कोई जंगल है जो आदमी पर
पेड़ से वार करता है
और यह चौंकने की नहीं, सोचने की बात है
मगर जो जिन्दगी को किताब से नापता है
जो असलियत और अनुभव के बीच
खून के किसी कमजात मौके पर कायर है
वह बड़ी आसानी से कह सकता है
कि यार ! तू मोची नहीं, शायर है
असल में वह एक दिलचस्प गलतफहमी का
शिकार है
जो यह सोचता है कि पेशा एक जाति है
और भाषा पर
आदमी का नहीं, किसी जाति का अधिकार है
जबकि असलियत यह है कि आग
सबको जलाती है सच्चाई
सबसे होकर गुज़रती है
कुंछ हैं जिन्हें शब्द मिल चुके हैं
कुछ हैं जो अक्षरों के आगे अन्धे हैं
ये हर अन्याय को चुपचाप सहते हैं
और पेट की आग से डरते हैं
जबकि मैं जानता हूं कि इनकार से भरी हुई
एक चीख
और एक समझदार चुप
दोनों का मतलब एक है –
भविष्य गढ़ने में 'चुप' और 'चीख'
अपनी–अपनी जगह एक ही किस्म से
अपना–अपना फर्ज़ अदा करते हैं

श्रम

– शिवमंगल सिंह 'सुमन'

(1)

हाथ हैं दोनों सधे–से
गीत प्राणों के रूँधे–से
और उसकी मूठ में, विश्वास
जीवन के बँधे–से

धकधकाती धरणि थर–थर
उगलता अंगार अम्बर
भुन रहे तलुवे, तपस्वी–सा
खड़ा वह आज तनकर

शून्य–सा मन, चूर है तन
पर न जाता वार खाली
चल रही उसकी कुदाली

(2)

वह सुखाता खून पर–हित
वाह रे साहस अपरिमित
युगयुगों से वह खड़ा है
विश्व–वैभव से अपरिचित

जल रहा संसार धू–धू
कर रहा वह वार कह ''हूँ''
साथ में समवेदना के
स्वेद–कण पड़ते कभी चू

कौन–सा लालच ? धरा की
शुष्क छाती फाड़ डाली
चल रही उसकी कुदाली

(3)

लहलहाते दूर तरू–गण
ले रहे आश्रय पथिक जन
सभ्य शिष्ट समाज खस की
मधुरिमा में है मगन मन

सब सरसता रख किनारे
भीम श्याम शरीर धारे
खोदता तिल–तिल धरा वह
किस शुभाशा के सहारे ?

किस सुवर्ण भविष्य के हित
यह जवानी बेच डाली ?
चल रही उसकी कुदाली

(4)

शांत सुस्थिर हो गया वह
क्या स्वयं में खो गया वह
हाँफ कर फिर पोंछ मस्तक
एकटक–सा रह गया वह

आ रही वह खोल झोंटा
एक पुटली, एक लोटा
थूँक सुरती पोंछ डाला
शीघ्र अपना होंठ मोटा

एक क्षण पिचके कपोलों में
गई कुछ दौड़ लाली
चल रही उसकी कुदाली

देख गोबरधन

– बुद्धिनाथ मिश्र

देख गोबरधन वर्दी कुर्सी
कपड़ों का सम्मान
और ज़ोर से चिल्ला–
अपना भारत देश महान ।

क्या है तेरे पास, कलम का
क्या है यहाँ वजूद ?
काला अक्षर देख, सभी हैं
लेते आँखें मूँद

इससे अच्छा तबला, घुंघरू
खेलों का मैदान
जिनके आगे दाँत निपोरे
पद्मश्री सम्मान ।

निगल गया 'राबन' का चश्मा
गाँधी की ऐनक
अंधे बहरे ब्रह्मा से
क्या माँग रहा तू हक ?

रजनी–सजनी की क़िताब लिख
मत कर यहाँ गुमान
कवि–मनीषी सिर्फ़ यहाँ
अफसर, मंत्री धनवान ।

कंकरीट के घने जंगलों में
बरसेगी आग
जीना है तो ढूँढ़ पेड़ की
छाँह, यहाँ से भाग

नंगा नाच देख रघुकुल का
वाल्मीकि हैरान
असली से नकली है महँगा
जान, न बन अनजान ।

केवल यहां सरकार है

बिजली नहीं, पानी नहीं
केवल यहाँ सरकार है ।
इस राज़ की सानी नहीं
केवल यहाँ सरकार है ।

यह भूमि है देवत्व की
अजरत्व की, अमरत्व की
कर्ता नहीं, ज्ञानी नहीं
केवल यहाँ सरकार है ।

सदियाँ गई तटवास में
पैसा न कौड़ी पास में
धारा कभी जानी नहीं
केवल यहाँ सरकार है ।

शिक्षा, चिकित्सा, न्याय भी
है अपहरण व्यवसाय भी
होती है हैरानी नहीं
केवल यहाँ सरकार है ।

विश्वास की भाषा मरी
वरदान की आशा मरी
चलती है परधानी नहीं
केवल यहाँ सरकार है ।

दरबारों में ख़ास हुए हैं

– कमलेश कुमार दीवान

दरबारों में
खास हुए हैं
आम लोग सारे ।

गलियारों में
पहरे
... पहरे
जनता दरवाज़ों पर ठहरे,
मुट्ठी भर जनतंत्र यहाँ पर
अधिनायक सारे,

राज निरंकुश
काज निरंकुश
इनके सारे बाज निरंकुश
लोक नहीं
मनतंत्र यहाँ पर
गणनायक हारे ।

ठहर गए
कानून नियम सब
खाली सब आदेश
मुफलिस की
आँखों में आँसू
हरकारे दरवेश,
ऊंच–नीच के भेद वहीं हैं
काले वही,
सफ़ेद वही है
स्वेच्छाचारी औ' अनिवारक
मणिवाहक सारे ।

फिर याद आने लगेंगे

– अमृत खरे

भुलाने में सौ–सौ जमाने लगेंगे
मगर हम तो फिर याद आने लगेंगे

किताबों में दाबे रखे फूल–जैसे,
रूमालों में पोहे गये इत्र–जैसे,
न भेजी गयी बावरी चिट्ठियों से,
छुपाकर सहेजे रखे चित्र–जैसे,
अचानक किसी अनमनी सी घड़ी में
निकल आयेंगे, महमहाने लगेंगे

अमावस की रातों की कन्दील–जैसे,
घटाओं घिरी राह की बीजुरी–से,
नदी में सिराये गये दीप–जैसे
किसी भक्त की ज्योतिधर आरती–से,
उजाले लिये हर कहीं हम मिलेंगे
दिखेंगे जहाँ, जगमगाने लगेंगे

लरजते हुए होंठ की प्यास जैसे,
छलकती हुई आँख के आँसुओं से,
सँभलते–सँभलते हिले कंगनों से
बरजते–बरजते बजी पायलों से
कभी तुम हमें चूक से टेर लोगे,
कभी हम तुम्हें गुनगुनाने लगेंगे

उपसंहार

– जोगेन्द्र सिंह

कई वर्ष पूर्व मैं लिपटा था श्वेत खोल से
अब मैंने फेंक दिया है खोल
अब मैं नग्न हूँ नग्न
अन्दर ही अन्दर मेरी आँते अकड़ती जा रही हैं
कहाँ है मेरा अस्तित्व ?
खोल से बाहर कूदने के बाद
मेरे जिस्म का कुछ हिस्सा
काट दिया गया
मुझे अलग–अलग हिस्सों में बाँट दिया गया
उसके बाद निर्वाचन होते रहे
आश्वासन दिये गये
कोई भूख नहीं उगलेगा
भुतहे मकान महल होंगे
शान्तिवादी का रामराज्य होगा
लेकिन कुछ नहीं हुआ
फिर हाथ भी उखाड़ दिये पिशाचों ने मेरे
और फेंक दिया मुझे अन्तर्राष्ट्रीय चौराहे पर
मैं बिना हाथों भीख मांगता रहा, मांगता रहा
और विश्व में महान गणतंत्र कहलाता रहा
सहलाता रहा मैं अपना दुःख
असीम वेदना थी भरी माँस की कोठरी में
कीचड़, मल, लीद को मैं उड़ेलता गया
अपने ही जिस्म के ऊपर खूनी चाकू से
बार–बार वार करता गया
घाव भरने के बाद भी मैं
ऊँघता हुआ भूख से, ऊब से
तभी मेरे पड़ोसी गौतम के शिष्य ने

थप्पड़ जड़ दिया मेरे गाल पर तपाक से
मैं जागा होश में आया
अपने आपको छिन्न–भिन्न होने से बचाया
आखिर उस वक्त मैंने कुछ नहीं पाया
मैंने अपने शान्तिवादी पितरों को दूर से ही प्रणाम किया
हाथ–पैर मारकर मैं रक्षा की तैयारियों में तल्लीन हो गया
तभी मेरे सहोदर से पैतृक जमीन पर हाथापायी हो गयी
अब मैं थक चुका था अपने पुराने आश्वासनों के विषय में
बहुत बक चुका था
बेकारी बेरोजगारी भ्रष्टाचार ने
मेरी देह को और सर्द कर दिया
मैं अपने आश्वासनों से अपने आपको छलता रहा
गर्म रेत को अपने उदास हाथों से मलता रहा
मेरी सुनसान सड़कों पर उदास गरीबी बैठी रही
मातायें बच्चे जनती रहीं
सुअरबियान समाज दिनोंदिन बढ़ता रहा
पर फिर भी भाषा की चीख
मेरे जिस्म पर फोड़े की तरह उगती रही
मैं अपनी बेतरतीबदार लम्बी उँगलियों से
अपने कुरूप चेहरे को कचोटता रहा
मेरा एक फेफड़ा पुष्ट होता गया
और एक में सभ्य प्रेत सलाखें डालते गये
अब मैं इस घृणित व्यवस्था से तंग आ गया हूँ
और अपने आस पास ऐसे समय को टटोल रहा हूँ
जब मैं अपनी देह बदलूँगा
और उन तमाम सभ्य प्रेतों से बदला लूँगा
जिन्होंने मेरे साथ अत्याचार किये ।

खुद्दारी

– रमेशचंद्र शर्मा 'आरसी'

माना हम तो छप ना पाए पुस्तक या अख़बारों में,
लेकिन यह क्या कम है अपनी गिनती है खुद्दारों में ।
हम वो पत्थर हैं जो गहरे गड़े रहे बुनियादों तक
शायद तुमको नज़र न आए इसीलिए मीनारों में ।।

हम शब्दों के शिल्प तराशा करते हैं पाषाणों में
शब्द बीज से फसल उगाकर भरते हैं खलियानों में ।
लेकिन दरबारों में हमने स्तुति गान नहीं गाए
शब्द सुमन महकाए हमने बंजर बियाबानों में ।।
हम गुलाब से मुस्काते है रहते चाहे खारों में ।
लेकिन यह क्या कम है अपनी गिनती है खुद्दारों में .....

निर्मल शांत झील का जल है पर गहराई सागर की
बूँद बूँद ही सही बुझाते मगर पिपासा मरुधर की ।
वह धारा जो निज प्रवाह से काट रही चट्टानों को
गुमनामी कूपों से गहरी है पर जिज्ञासा गागर की ।।
आसमान को छोड़ ज़मीं पर बिखर गए बौछारों में ।
लेकिन यह क्या कम है अपनी गिनती है खुद्दारों में .....

नहीं कामना स्वर्ण कलश बन शिखरों पर चढ़ने की
हमने तो आदत डाली है तूफानों से लड़ने की ।
कट जाएँगे नहीं झुकेंगे जब से मन में ठान लिया
पीछे मुड़ कर कब देखा चाहत थी आगे बढ़ने की ।।
फाँसी के फन्दे चूमे या चिने गए दीवारों में ।
लेकिन यह क्या कम है अपनी गिनती है खुद्दारों में ....

ये कैसा शहर है

– अंजल प्रकाश (हालैण्ड से)

उदासी की डगर है अंधेरों का नगर है
धुंध के साए में डूबा
ये कैसा शहर है... ये कैसा शहर है...

बाहर का उजाला अन्दर का अंधेरा
बेचैनी बिखेरता सुबह का सवेरा

मौसम के साथ यहां लोग बदलते हैं
अपनी उदासी में दूसरों को लपेटते हैं
इंसानी हस्ती मिटा कर यहां पर
मशीनों की तरह तो लोग मिलते हैं

फिर कहते हैं इतने उदास क्यों हो
मैं कहता हूं कि... ये शहर का असर है...
ये शहर का असर है

वो कहते हैं खुशी हम कहां से लाएं
जो उधार में भी ना मिले यहां... उसे कहां से पाएं
मैं कहता हूं तुम यहां के तो न हो
किसी ने कभी जो खुशी तुम पे बांटी उसे तो खर्च करो
एक बांटोगे हजार मिलेगा... इस शहर का भी कुछ भला होगा

इंसानियत का जज्बा हर दिल में होता है
प्यार की खुशबू से कौन दिल न धड़कता है
आओ आज अन्दर से उस इंसान को जगाएं
एक नया शहर बनाएं... एक नया शहर बनाएं

हूं मगर उल्लास नहीं

– ओमकृष्ण राहत (आस्ट्रेलिया से)

हंसता हूं मगर उल्लास नहीं, रोने पे मुझे विश्वास नहीं
इस मूरख मन को जाने क्यों, ये जी बहलावे रास नहीं

अश्रु का खिलौना टूट गया, मुस्कान की गुड़िया रूठ गई
इस चंचल बालक–मन को मगर लुट जाने का अहसास नहीं

सब बात बिगड़ने बनने की एक आस निरास का चक्कर है
जो बिगड़ गई वो बात नहीं जो टूट गई वो आस नहीं

क्या भीगा भीगा मौसम था क्या रुत है फीकी फीकी सी
हम पहरों रोया करते थे अब एक भी आंसू पास नहीं

हिम्मत तो करो पूछो तो सही इस बगिया के रखवालों से
क्यों रंग नहीं है फूलों पे क्यों कलियों में बू बास नहीं

वो आ जाएं या घर बैठें कुछ इसमें ऐसा फ़र्क नहीं
ये मिलना जुलना रस्में है दिल इन रस्मों का दास नहीं

जब सारा जीवन बीत गया तब जीने का ढब आया है
वो जाएं तो कोई शोक नहीं वो आएं तो उल्लास नहीं

इस बैरन बिरहा ने मेरा ये हाल बनाया है 'राहत'
वो कबसे सामने बैठे है और आंखों पर विश्वास नहीं

किसे दोष दूँ मैं

– संध्या सदासिंह (मारीशस से)

किसे दोष दूँ मैं
तुझे
या अपने आप को
या अपने पागल मन को
मेरा जीवन न मेरे पीछे है
न ही मेरे आगे
वर्तमान की तरह मेरे साथ हें
मेरे अपने भी शायद
ऊब चुके हैं हम से
मेरे बीते बरसों का
वह अटूट सपना
प्रेत आत्मा की तरह,
मुझे कुरेदता रहता है,
जाने किस पाषाण दिशा में छुप गया है
मेरा सपना सच हो न सका
न ही मिली मुझको मंजिल अपनी
मैं दोषी की भाँति अपमानित सी ।
उमस की तरह
दिल में वहशत पड़ी पीड़ा लिये
अपने में घुटती रह जाती
सब से अकेली और अनभिज्ञ मैं
अपनी फूटी किस्मत को
कोसकर क्या करूँ मैं,
मेरी हर शाम मेरी हर रात
चिन्ता में घुली हुई है ।
शायद यही है मेरी सजा
फिर किसी को दोष देकर क्या करूँ मैं ।

हम भारतवासी, हम भारतवंशी

– स्नेह ठाकुर

कदमों से कदम मिला
कंधे से कंधा मिला
चलते हैं हम ऐसे जब
दुश्मन के दिल हिलते हैं तब ।

रोकें चाहे आँधियाँ, ज़मी या आसमां हमें
पाना है लक्ष्य हमें हर हाल में
हिम्मत से चलें, धरती हिले कदमों तले
क्या दूरियां, क्या फासले, मंजिल लग जायेगी गले ।

चलना है हमें सुबह–शाम
रुकना, झुकना नहीं हमारा काम
अब तो यही रास्ता है अपना
पहचान ले, यही सपना है अपना ।

आगे ही आगे बढ़ते जाना है
विध्वंस–बादल बन संहार करना है
शोला बन आग उगलना है
दुश्मन के छक्के छुड़ाना है ।

आये हैं रण–प्रांगण में, लिये जान हथेली पे
मोड़ें कलाई मौत की, ये हिम्मत हममें
रण–बाँकुरे, हम पहुँचेंगे मंजिल पे
हो जा होशियार, हम हैं आसमाँ की बुलन्दी पे ।

हम अपनी सरहदों की लौह दीवार हैं
दुश्मनों को हरदम खदेड़ने को तैयार हैं
पछताओगे ताकत हमारी आज़मा के तुम
ऐ गीदड़, सियारों, न डालो हमारी माँ पे बुरी नज़र तुम ।

कैसे कर लेते हो ?

– निधि टंडन

तुम में एक खूबी है
पूछोगे नहीं, क्या ?
या आश्चर्य से कहोगे नहीं... कि केवल एक !
एक बात पूछूँ, तुमसे...
कि
तुम यह कैसे कर पाते हो कि
जब तुमसे गलती हो जाती है
तब इतनी ढिठाई से
तर्क पे तर्क करते रहते हो
बिना शर्मसार हुए
तुम तब तक यह सब करते हो
जब तक मुझे एहसास नहीं करा देते
कि
जो गलती तुमने करी
उसका कारण भी मैं ही हूँ
जबकि, मुझसे कभी कोई भूल हो जाती है
तो, कई दिन तक मुझे
अपराध बोध सालता रहता है।
मैं,
अपनी–तुम्हारी गलतियों का
बोझ ढो–ढोकर
थक गयी हूँ ।
अपनी भूल की पीड़ा
तुम्हारी गलती का दंश
दोनों, अकेले झेलती हूँ
कभी तुम्हारा फूला हुआ मुँह
कभी तुम्हारा रूखा व्यवहार
तो कभी तुम्हारा अबोला सहकर
बताओ ना...
कैसे कर लेते हो तुम यह सब ।

बीबी

– शबनम राठी

तुमने मेरे अधर छुए,
मेरे जिस्म से खेला
और फिर मेरे वक्ष में
सिर रख के सो गए
निश्चिंत...
एक मदमाती गंध
के आगोश में
एक नर्म गुदाज़
बदन के रोम–राम को
महसूसते ....
मेरी पलकों पे ठहरे हिमकण
कब बर्फ में हुए तब्दील
कब धीरे–धीरे खोई आँखों की नमी
कब लगी आँख
कब उग आया सहरा वजूद में
कब किरकिराने लगा रेगिस्तान
पलकों में
तुम्हें मालूम ही नहीं पड़ा...
तुम्हें दरअसल
कभी जरूरत ही नहीं पड़ी
ये जानने की
कि तुम्हें जिलाने की
ख्वाहिश में कितना
घटी मैं
बँटी मैं ।

कब, कहाँ, कितनी
गिरी मैं
कितनी गिरी मैं ।
धीरे–धीरे मेरा होना
होता गया तुम्हारे लिए
होना एक बिस्तर
जिससे बिछकर सोया जा सकता है
चादर, जिसे तहाया जा सकता है
टॉवल, जिससे पोंछा जा सकता है
तन का मैल ।
या खूँटी जिससे टाँगी जा सकती है
दिनभर की थकान ।
मेरा होना हो गया
फर्नीचर का होना, टीवी का या
फ्रिज का होना,
वस्तु का होना ।
कब, कहाँ दिन भर की उमंग का दरिया
तब्दील हुआ हिमखंडों में
तुम्हें मालूम ही नहीं पड़ा ।

ऐसा नहीं कि वक्त नहीं था तुम्हारे पास;
शायद, नजर नहीं थी या भाायद
जरूरत नहीं थी तुम्हें मुझे इंसान के तौर
पर
देखने की...

ज़रूरत आदमी को आदमी रहने नहीं देती
जुबां पर सच तो आता है मगर कहने नहीं देती

– सर्वेश चन्दौसवी

वादा

– पूनम कुमारी

हे सर्वशक्तिमान, अदृश्य सत्ता
प्रेम और विश्वास के सागर
तुमसे है यह वादा–
तुम्हारे ही भरोसे
जिंदगी को जिऊँगी
झेलूँगी नहीं ।

परिस्थितियों से हारकर
समझौता स्वीकार कर
'असत्य' के मार्ग पर चलूँगी नहीं
लहरों को भेदूँगी
बहूँगी नहीं ।

जो फर्क है जोड़ने और तोड़ने में
जो फर्क है चलने और ठेलने में
वही फर्क है जीने और झेलने में
मेरे प्रभु ! तेरे ही बल पर लड़ूँगी
जिंदगी से डरूंगी नहीं
गरल पी लूंगी, मरूंगी नहीं ।

टूट जाऊँ, गिर जाऊँ, भटक जाऊँ
राह में ही रूक जाऊँ या बेहिसाब थक जाऊँ
तो तू मुझे संभालना–
मुश्किलों के प्रचंड झंझावात में
सत्य का दीपक बुझाता झूठ काली रात में
मेरे प्रभु ! तब तुम मुझे उबारना
अधर्मी और पापी से डरूंगी नहीं
मानवता हारे, ऐसा समझौता करूंगी नहीं,
हालातों से लड़ूँगी
झूठ के झकोलों में फँसूंगी नहीं
तुमसे है यह वादा–
हे अन्तर्यामी !
तुम्हारे ही भरोसे
जिंदगी को जिऊँगी
झेलूँगी नहीं ।

जीवन क्या है

– मिथिलेश शर्मा

ये जीवन है एक चुनौती,
करो सामना इसका डटकर ।
जीवन है संग्राम, अन्त तक,
इससे लड़ो पूर्ण हो तत्पर ।।

जीवन एक खेल है, इसको,
खेलो त्याग, मोह, मद, मत्सर ।
यह जीवन है एक प्रतिज्ञा,
इसे पूर्णता का दो उत्तर ।।

जीवन है सौन्दर्य, करो तुम,
इसकी पूजा नित्य, निरन्तर ।
व्यर्थ न खोओ इस जीवन को,
जो केवल है एक सुअवसर ।।

सत्य समझ लो, इस जीवन को,
जो नितान्त ही स्वप्न मात्र है ।
इसका लो आनन्द प्रेम से,
जो कि प्रेम का महापात्र है ।।

जीवन दुःख है, इसे जीत लो,
सुख है इसका शुभ प्रसाद लो ।
यह मृदु संगीत, प्रेम से,
लय के साथ इसे तुम गा लो ।।

जीवन है एक लम्बी यात्रा,
करो इसे सम्पन्न सुहर्षित ।
साहस कार्य सत्य ही जीवन,
इसे करो संकल्प समर्पित ।।

तुमसे हारे हैं

– डॉ. संध्या जैन 'श्रुति'

तेरी यादों की नैय्या के, बोझिल लगे किनारे हैं
जग से बाजी जीत गये हम, लेकिन तुमसे हारे हैं ।

तुमने अपने मन की कर ली और हमें ठुकराया है
पीड़ा ने गीतों में आकर मुखड़ा खूब सजाया है
अनजानी आशा के आप, सजाये वंदनवारे हैं
जग से बाजी जीत गए हम, लेकिन तुमसे हारे हैं ।

अर्घ्य अश्रु का चढ़ा–चढ़ाकर प्यासे अधर तड़प जाते हैं
आकुल–व्याकुल हो जाता मन गीत–विरह बाहर आते हैं
एक बार आ फिर दिखला दो अपने वही नजारे हैं ।
जग से बाजी जीत गए हम, लेकिन तुमसे हारे हैं ।

सब अभाव रखकर आँचल में प्रेमभाव की अनुकंपा की
मौन जहाँ संवाद बोलते ऐसी भी भाषा बतला दी
सावन–मनभावन हरियाली वन–उपवन भी न्यारे हैं
जग से बाजी जीत गए हम, लेकिन तुमसे हारे हैं ।

ज्ञान और विज्ञान जहाँ पर, सारे हो जाते अक्षम
खोई–खोई मादकता में मन प्राण रहें मेरे हम दम
सपनों के संदर्भ सुकोमल विचलित करते सारे हैं
जग से बाजी जीत गए हम, लेकिन तुमसे हारे हैं ।

मुट्ठी से फिसले ज्यों रेती, पल–पल ऐसे बीत रहा है
होठों पर बस नाम तुम्हारा मेरा प्यारा गीत रहा है
हर पल साथ निभाने के जब–सब अनुबंध हमारे हैं
जग से बाजी जीत गए हम, लेकिन तुमसे हारे हैं ।

त्यागे तो भवधार में

– डॉ. दुर्गा पाठक 'आरती'

आँख लगी, सपने जागे बढ़ीं उमंगें ज्वार की,
जाग उठी तो तेरी हूँ फिर, सोई तो कर्त्तार की ।

चैत लगे तो फसलें काटें, फूली चन्दनियाँ प्रीति की ।
गुड्डा–गुड्डी ब्याहन लागे, बैसाख अक्ती तीज की ।।
जेठ तड़ातड़ आग लगाये, आषाढ़ चातक प्रीति की ।
सावन रसिया झूले हिंडोला, भादो बरसे अनरीति की ।।
क्वार ठिठक कंगूरे पकड़े, कार्तिक कंपे बाती ज्योति की ।
अगहन हवा बड़ी हटीली, पूस माघ के नेह की ।
फागुन रंग, रंग जाऊँ तो तेरी हूँ चढ़ा न रंग तो बौछार की ।

आंगन में सन्नाटा छाया, पायल बिलखे पाँव में,
सारी रात पपीहा तरसे, ज्यों बदरा की छाँव में ।
चातक तरसे मेघा बरसे, पनघट प्यासा ठांव में
भरी कलाई, चूड़ी टूटी, सिंदूर धुल गया गाँव में ।
कजरा बह गया, नयना सूखे, विरह अगन की ठांव में ।
कब तक बाँधू, नेह जलन से, अब निर्मोही भाव में ।
मैं गूंजी तो तेरी हूँ फिर, सिसक पड़ी तो आह में ।

दर्पण देखूं तो तन कांपे, मन काँपे, ध्रुव ध्यान में ।
घूंघट में तड़ित चलाये, इंद्रधनुषी मुस्कान में ।
अधरों से कोयलिया कूके, पुरवा गरजे साँस में ।
श्वेत चुनरिया, रह–रह उलझे, नागफनी की फाँस में ।
पथ–सागर में भटक रही हूँ देखूँ इत–उत आस में ।
पथ न जानूं दिशा अजानी, 'दुर्गा' पड़ी मझधार में ।
बाँह गहे तो तेरी हूँ, प्रभु, त्यागे तो भवधार में ।।

बूढा लकड़हारा

– शरद पटेल

थमी हुई धूप से
छन कर
आ रही थी
थोड़ी सी
गर्म हवा

गली के कुत्ते की
लटकती जीभ
पेड़ पर बैठी
सुस्त चिड़िया

बरगद की
असहाय डालियाँ
पोखर का
धूप से फटा
भीना कीचड़

बूढ़े लकड़हारे को
इन सब का
कुछ भी पता
नहीं था ।

क्यों कि
उसके पेट का
ज्वालामुखी
भूख से
फटा था
और
चला जा रहा था
नंगे पाँव
जलती हुयी सड़क पर
लिये
लकड़ी का गट्टर
अपने सर पर

निवेदन

पारस–परस पूरी तरह से एक गैर–व्यावसायिक पत्रिका है । इसका एकमात्र उद्देश्य काव्य के माध्यम से हिन्दी कवियों के पैगाम को जन–जन तक पहुंचाना है । इस पत्रिका में प्रकाशित सभी रचनाओं के साथ रचनाकारों का नाम और उनसे संबंधित उचित जानकारी दी जाती है जिससे रचनाकार को उचित श्रेय मिलता है । इतना ही नहीं, हम प्रत्येक रचना के प्रकाशन से पूर्व संबद्ध रचनाकार से लिखित/मौखिक अनुमति का भी भरसक प्रयास करते हैं । फिर भी यदि किसी रचनाकार/कॉपीराइट धारक को कोई आपत्ति है तो उनसे अनुरोध है कि वह हिन्दी काव्य के प्रचार–प्रसार को ध्यान में रखते हुए, इस पत्रिका के योगदानकर्त्ताओं से हुई भूलवश गलती को क्षमा कर दें। यदि कॉपीराइटधारक को कोई आपत्ति है तो कृपया paarasparas.pathak@gmail.com पर सूचित कर दें ताकि पत्रिका के आगामी अंकों में उनकी रचनाएं प्रकाशित करने से पूर्व लिखित अनुमति सुनिश्चित की जा सके और इस संबंध में आवश्यक पहलुओं को ध्यान में रखा जा सके ।

इस कार्य को प्रसून–प्रतिष्ठान द्वारा जन–जागरुकता और जनहित की दृष्टि से किया जा रहा है । इस पत्रिका को प्राप्त करने के लिए संपादकीय कार्यालय से संपर्क कर सकते हैं।

दूषित हुआ विधान

– निर्मल शुक्ल

बीस सदी के पार हुए हम
फिर भी है अनजान
इस पृथ्वी ने पहन लिये क्यों
विष डूबे परिधान

धुआँ मन्त्र सा उगल रही है
चिमनी पीकर आग
भटक गया है चौराहे पर
प्राणवायु का राग
रही खाँसती ऋतुएँ, मौसम
दमा करे हलकान

पेड़ कटे क्या, सपने टूटे
जंगल हो गये रेत
विकृतियों से बंजर हो गये
बाग, बावड़ी, खेत
उजड़ गयी बस्ती पंखों की
थकने लगी उड़ान

धीरे–धीरे बादल, अम्बर
सबने खींचे हाथ
सूख गया अनुराग नदी का
जलचर हुये अनाथ
चढ़े घाम तो गलियारों की
सूखे हलक जबान

परजीवी बन चुका प्रदूषण
कैसे पाँव पड़े
शहरों से तो फिर भी अच्छे
आदिम गाँव बड़े
दोष नहीं कुछ कंकरीट का
दूषित हुआ विधान ।

चलो उजाला ढूँढें

— माधव कौशिक

चलो उजाला ढूँढें
काली रातों में

सागर हो या
तपता मरुथल प्यास बुझाए पानी
मन का दर्द दबाए मन में है
जीवन सैलानी
नहीं सांत्वना मिलती
इन हालातों में

चलो उजाला ढूँढें
काली रातों में

अपने इस अंधेर
नगर का शासक चौपट राजा
टके सेर की भाजी बिकती
टके सेर का खाजा
न्यायालय अन्याय
दिखाते खातों में

चलो उजाला ढूँढें
काली रातों में

सूरज के सब घोड़े

दौड़ गए विपरीत दिशा में
सूरज के सब घोड़े

पानी की पगडंडी पर जब
लोग चले बालू के
अंधी अंधियारी रातों में
भाव चढ़े जुगनू के
तितली के पंखों ने झेले
काँटों भरे हथौड़े

बुझे दीयों से रोज आरती
करते रहे शिवाले
मस्जिद के गुंबद पर फैले
असमंजस के ताले
क्या जाने कब घर लौटेंगे
आखिरकार भगोड़े

गँवई गँवार गाँव की गलियाँ
पंचों की महतारी
पोखर वाले हर बरगद की
गरदन पर है आरी
अपराधी सी चौपालों ने
खाए सबके कोड़े

यह दौरे–सियासत है, इसमें न सगा कोई
इसमें ये रिवायत है, बस हाथ मिला रखना

— शिवकुमार बिलग्रामी

प्रदूषण और वैश्विक ताप

– डॉ0 जयजयराम आनंद

करते वातावरण विद, खरा खरा ऐलान
प्रलय बाढ़ ने कस लिए, अपने तीर कमान

आतंकी का रूप धर, आया वैश्विक ताप
छोटे मोटे द्वीप तट, झेल रहे अभिशाप

भूल गया पारा अरे, परम्परागत चाल
बैरोमीटर की कहीं, अब ना गलती दाल

हवा हवा की निकलती, हुई हवा हैरान
लूह लपट के रूप में, बनी क्रूर शैतान

दलने छाती पर लगीं, रवि किरणें जब दाल
तापमान के आन की काम न आये ढाल

बर्फ ध्रुवों की पिघलती, धरे भैरवी रूप
पशु पंछी इन्सान के, रही नहीं अनुरूप

वाहन ढेरों, चिमनियाँ, उगल रहे अभिशाप
प्रदूषण भूगोल का, हुआ असीमित माप

वन उपवन के गाँव में, कंकरीट की बाढ़
मरुस्थल पाँव पसारता, मिटे झाड झंखाड़

पानी पानी हो गए, अब जलधर के ठाट
माथा अपना ठोकते, कुआँ बाबड़ी घाट

भ्रष्टाचारी प्रदूषण, रचे नया इतिहास
सब दुनिया को हो गया, खरा खरा अहसास

ग्रीनहाउस के छेद का, बदल रहा भूगोल
थमीं नहीं यदि चाल तो, आएगा भूडोल

घोर प्रदूषण यातना, हम सबका है पाप
आने वाली पीढियाँ, भोगेगी अभिशाप

सदा नेह बरसाया मां ने

– गाफिल स्वामी

अपना दूध पिलाकर मेरा, तन मन पुष्ट बनाया मां ने ।
जब भी मैं रोया चिल्लाया, छाती से चिपकाया मां ने ।।

घुटुअन चला गिरा पुचकारा, चोट लगी सहलाया मां ने ।
धीरे–धीरे बड़ा हुआ मैं, उँगली पकड़ चलाया मां ने ।।

भूखी रही बाद में खाया, पहले मुझे खिलाया मां ने ।
गीले में सोई महतारी, सूखे मुझे सुलाया मां ने ।।

नजर न लगे किसी की मुझको, टीका रोज लगाया मां ने ।
घर से बाहर जब भी निकला, सिर पर हाथ फिराया मां ने ।।

पढ़ने गया पाठशाला में, ले ले कर्ज पढ़ाया मां ने ।
पास हुआ तो खुशी हुई मां, फेल हुआ समझाया मां ने ।।

कभी झूँठ बोला तो मारा, केवल सच सिखलाया मां ने ।
शादी योग्य हुआ की शादी, इंसा मुझे बनाया मां ने ।।

सास बहू में तू तू मैं मैं – हुई, सदा छुपाया मां ने ।
गाली खाई अश्क बहाये, फिर भी नहीं बताया मां ने ।।

मैं तो कर्ज चुका न पाया, मेरा कर्ज चुकाया मां ने ।
मरते दम तक दी आशीशें, सदा नेह बरसाया मां ने ।।

जब देखा तुमको

– वीरेन्द्र कुमार सैनी

झरनों की फुहार लगीं तुम
गीतों की मल्हार लगी तुम
भोर की रश्मि सी सुन्दर
लहरों की झंकार लगी तुम
जब देखा तुमको .....

गुलाब से भी सुकोमल बदन
कमल की पंखुरी से नयन
बादल की कालिमा सा काजल
सौंदर्य की प्रतिमा लगी तुम
जब देखा तुमको ....

मंदिर के घरों की झंकार
मृग तृष्णा सी उकसाई सकुचाई
राधा की चूड़ियों की खनकार
कृष्ण की बाँसुरी का स्वर तान लगी तुम
जब देखा तुमको .....

बुलबुल का मधुर स्वर गान
कोयल की पी कहां की तान
चीड़ के पेड़ों की स्वर लहरी
पवन का मधुर गान लगी तुम
जब देखा तुमको....

तिफ़्ल में बू आए क्या माँ–बाप के अतबार की
दूध तो डिब्बे का है, तालीम है सरकार की

– अकबर इलाहाबादी

योरप

– लल्लन प्रसाद

चौड़ी सड़कें, चमचमाती कारें
गनन चुम्बी इमारतें
सुन्दर वेश सजे परिवेश
योरप के देश ।

रंग बिरंगे फूलों से भरे पार्क
बदन से सटे कपड़ों से
निकलते उड़ते परफ्यूम
शहर की नदियों के बंधे किनारे
रोमांस करते युवक युवतियां
सावधानी की मुद्रा में खड़े
छायादार वृक्षों की कतारें
प्राकृतिक सम्पदा से भरपूर
सुख सुविधा के साधनों से भरे
दूसरों पर शासन करने में तेज
मंगाते हैं इमारती लकड़ियां
कारखानों का कच्चा माल
मांस फल फूल मछलियां
एशिया अफ्रीका के देशों से
कम से कम कीमत देकर
उन्हीं को बेचते हैं पक्का माल
भारी मुनाफे लेकर ।

कर्ज लेकर मौज करने की
संस्कृति में विश्वास करते हैं
बिखरते हैं उनके परिवार
शान्ति की खोज में भटकते हैं
हम उनकी नकल कर रहे हैं
वे हमारी ओर देख रहे हैं ।

सत्ता की आग

– नरेन्द्र सिंह

द्वेष का बीज वट वृक्ष बन खिल चुका
विष वमन कर रहा उसका हर फूल है
आसुरी शक्तियां नाचती नग्न हो
किस प्रतीक्षा में देवत्व अब मौन है ।
जो विधा सत्यहित विश्वविख्यात है
आज रजनीचरों का बनी भौन है ।।
लोक तंत्री विधा लूट तंत्री बनी
शालता हर हृदय को यही शूल है । द्वेष का....
राजसी दस्यु खुल लूटते देश को,
और हिन्दुत्व से उनका संग्राम है ।
सत्य ग्राही बिखरकर रहे टूट हैं
राक्षसों की सभा आज बलवान है ।।
चोर कोतवाल पर है तरेरे नयन
राज के काज में उड़ रही धूल है । द्वेश का ...
सत्य सिद्वान्त चुन चुन हते जा रहे
राज सत्ता अनल आज ऐसी जली ।
सर्वशासक प्रशासक लुटेरे बने
लूट की राज में कुछ हवा यो चली ।।
भोग के रोग में योग सांसे भरे
आचरण को नहीं मिल रहा कूल है । द्वेश का बीज.....

झगड़ते तुझसे तो प्यारे हिजाब आता है
वगर्ना बात का तेरी जवाब आता है

– एहसन अल्लाह "ब्यां"

हमर्दद कैसे–कैसे

– शिवकुमार 'बिलग्रामी'

हमदर्द कैसे कैसे, हमको सता रहे हैं
कांटों की नोक से जो, मरहम लगा रहे हैं

मैं भी समझ रहा हूँ, मज़बूरियां तुम्हारी
दिल का नहीं है रिश्ता, फिर भी निभा रहे हैं

भटका हुआ मुसाफिर, अब रास्ता न पूछे
कुछ लोग हैं यहां पर, सबको चला रहे हैं

पलकें चढी ये आँखें, जो नींद को तरसतीं
सपने मगर किसी के, इनको जगा रहे हैं

मग़रूर आप क्यूं हैं, हर बात में नहीं क्यों
अब आप फायदा कुछ़, बेजा उठा रहे हैं

जिस तरह हंस रहा हूं मैं पी–पी के अश्के गर्म
यूं दूसरा हंसे तो कलेजा निकल पड़े

– कैफी आजमी

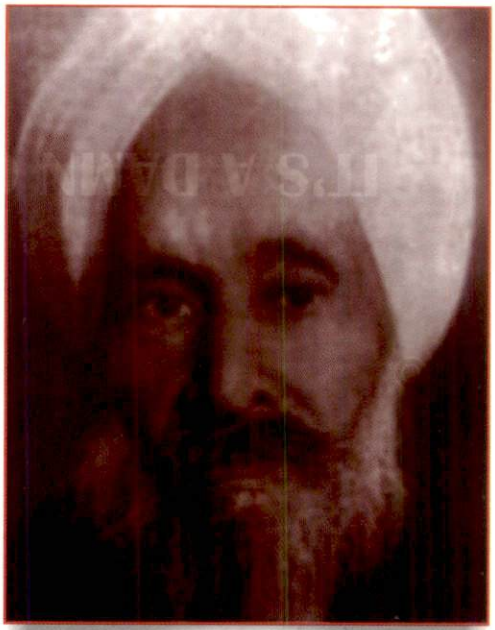

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

(जन्मः 15 अप्रैल, 1865; निधनः 16 मार्च, 1947)

जो कभी अपने समय को यों बिताते हैं नहीं
काम करने की जगह बातें बनाते हैं नहीं
आजकल करते हुए जो दिन गँवाते हैं नहीं
यत्न करने से कभी जो जी चुराते हैं नहीं
बात है वह कौन जो होती नहीं उनके लिए
वे नमूना आप बन जाते हैं औरों के लिए

केदारनाथ अग्रवाल

(जन्मः 1 अप्रैल, 1911; निधनः 22 जून, 2000)

हमारी जिन्दगी के दिन
बड़े संघर्ष के दिन हैं।
हमेशा काम करते हैं
मगर कम दाम मिलते हैं।
प्रतिक्षण हम बुरे शासन.....
बुरे शोषण से पिसते हैं !!
अपढ, अज्ञान, अधिकारों से
वंचित हम कलपते हैं।